मिथिलाक्षर का अनुशीलन

पवन मिश्रा

मिथिला (या विदेह या तिरहुत) क्षेत्र में प्रचलित लिपि मिथिलाक्षर या तिरहुता लिपि या मैथिली लिपि है । यह उत्तर बिहार एवं इससे सटे दक्षिण नेपाल का क्षेत्र है । मिथिलाक्षर एक अंतर्राष्ट्रीय लिपि है । यह मिथिलांचल की जनलिपि है । इसका प्रचार-प्रसार बंगाल, असम, उड़ीसा, बंगलादेश एवं नेपाल तक हुआ । इस पर तंत्र का प्रभाव परिलक्षित होता है । आज भी मिथिलांचल में विभिन्न यज्ञों में इस लिपि का ही प्रयोग होता है । ज्ञातव्य है कि मौर्य सम्राट अशोक प्रियदर्शी की ब्राह्मी लिपि का विकास ईसा पूर्व दूसरी शती में शुंग-ब्राह्मी के रूप में होते हुए कुषाण-ब्राह्मी एवं गुप्त काल की यात्रा करते हुए सातवीं सदी में मिथिलाक्षर (तिरहुता लिपि) के प्राचीनतम रूप में प्रकट हो चुका था । गुप्तलिपि के पूर्वांचलीय आकृति से समग्र पूर्वांचलीय लिपि मिथिलाक्षर, बंगला, असमिया एवं उड़िया का विकास वैसे ही हुआ जैसे मागधी अपभ्रंश से समग्र पूर्वांचलीय भाषा का । अतएव पूर्वोत्तर भारतीय लिपियों एवं भाषाओं में अद्भुत समानता है । आठवीं सदी और इसके बाद इसका पूर्ण विकास हुआ ।

सुप्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथ *ललितविस्तर* में वैदेही-लिपि का उल्लेख है जिसे मिथिलाक्षर का प्राचीनतम स्वरूप कहा जा सकता है । हर प्रसाद शास्त्री के ग्रंथ *बौद्धगानओदोहा* के तालपत्र पांडुलिपि, महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन के अनुसार तिब्बत में संगृहीत कुल्कल्ला सावन के तालपत्र तथा सातवीं शताब्दी के जापान होरिऊजी मंदिर में संगृहीत प्राचीन एवं दुर्लभ पांडुलिपि में मिथिलाक्षर के अधिक अक्षर हैं । शुद्ध तिरहुता का उदाहरण कर्णाट नरेश नान्यदेव (1097 ई०) के मंत्री श्रीधर कायस्थ के अंधराठाढ़ी अभिलेख, श्री पक्षधर मिश्र, विद्यापति एवं चंदा झा द्वारा लिखित पांडुलिपियों में देखी जाती है । कटरा ताम्रलेख, महिपाल प्रथम के समय के इमादपुर मूर्तिलेख, विग्रहपाल द्वितीय के समय के नौलागढ़ एवं बनगांव अभिलेख, 11वीं शताब्दी के पनचोभ ताम्रपत्र अभिलेख, आसी शिला लेख, तिलकेश्वर गढ़ एवं ग्वोंजपुर अभिलेख, भागीरथपुर शिला लेख आदि में उल्लिखित लिपि मिथिलाक्षर के

Scanned by CamScanner

वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालती है । *वर्णरत्नाकर* की पांडुलिपि एवं विद्यापति ठाकुर के *श्रीमद्भागवतमहापुराण* की पांडुलिपि इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है । *महाभारत* के कर्ण पर्व की प्रतिलिपि (ल० स० 327) ओइवार नरपति नरसिंह कर्णदाह के अभिलेख आदि भी मिथिलाक्षर में ही है । मिथिलाक्षर में अनेक संस्कृत ग्रंथ मिथिला इन्स्टीच्यूट, मिथिला विश्वविद्यालय, कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, पटना विश्वविद्यालय के पांडुलिपि विभाग, काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान एवं बिहार रिसर्च सोसाइटी तथा देश एवं विदेश के विभिन्न ग्रंथालयों में सुरक्षित हैं। बलदेव मिश्र, विष्णुलाल शास्त्री, परमानन्दन शास्त्री एवं जगन्नाथ मिश्र द्वारा अनेक प्राचीन एवं दुर्लभ मिथिलाक्षर पाण्डुलिपियों की खोज, संकलन, संपादन, प्रकाशन आदि कार्य सर्वविदित है । परमानन्दन शास्त्री के *मिथिलामिहिर*(1960) में धारावाहिक 'मिथिलाक्षरक उत्पत्ति' शीर्षक लेख तथा राजेश्वर झा की *मिथिलाक्षरक उद्भवओविकास*, जगन्नाथ मिश्र की *मैथिलीवर्णमाला*, जयकान्त मिश्र की *तिरहुतालिपि* विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

मिथिलाक्षर के महत्व को विभिन्न विद्वानों ने सहर्ष स्वीकार किया है । यह लिपि जिस शैली या आकार में लिखी जाने लगी, इसको निश्चयपूर्वक कहना कठिन है । इसमें अनेक ऐसी विलक्षणता है जो इसे बंगला, असमिया लिपि से सर्वथा पृथक करती है । बंगला एवं उड़िया लिपि अपनी प्राचीन आकृति से पर्याप्त परिवर्तित हैं जो इसके प्राचीन एवं नवीन ''र'' की तुलना से स्पष्ट हो सकती है, परंतु तिरहुता अभी भी अपने मूलरूप में है । मिथिलाक्षर एवं असमिया दोनों ही लिपि का आरंभ ''ऑजी'' से होती है । मिथिला की परंपरा रही है कि लिपि का आरम्भ में ''ऑजी'' और ''सिद्धरस्तु'' लिखी जाती है । देवनागरी के प्रचार से मिथिला में दैनिक व्यवहार से तिरहुता में अवनति आयी एवं इस लिपि को दिनानुदिन विनाश के कगार पर पहुँच जाना पड़ा । परंपरागत मैथिल संस्कृति सम्पोषक परिवार में अभी भी तिरहुता के व्यवहार पूर्वत होती है, विशेषतः विभिन्न संस्कार, यज्ञ, विवाह, उपनयन के अवसर पर निमंत्रण लिखने में । अनेक विद्वान् मिथिलाक्षर की आकृति तंत्र से प्रभावित मानते हैं। मिथिला तांत्रिक उपासना की केंद्रभूमि रही है एवं इसके सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर तंत्र का घनिष्ठ प्रभाव अभी भी अनुभव की जाती है । इसी कारण अभी भी अन्य लिपि की अपेक्षा तिरहुता में लिखित ग्रंथ पूजा पाठ हेतु अधिक उपयुक्त और प्रभावपूर्ण माने जाते हैं । मिथिलाक्षर की अन्य विशेषता जो इसे अन्य पूर्वांचलीय लिपि से विलक्षण सिद्ध करती है वे हैं अधिकांशतः संयुक्ताक्षर, ग, श, ष्णु, य, कृ प्रभृति के हेतु पृथक-पृथक अक्षराकृति । ''ओ'' और ''औ'' ''आ'' में मात्रा लगाकर नहीं लिखे जाते, प्रत्युत उस हेतु स्वतंत्र अक्षर का प्रावधान है । देवनागरी से भिन्न रीति से मात्रा के संयोजन होता है । ई बहुत ही शीघ्रता से लिखा जाता है। इसमें हाथ उठाने की आवश्यकता कम पड़ती है । इस प्रकार मिथिलाक्षर एक वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक लिपि है । इसमें सभी भाषाओं की ध्वनियां का उच्चारण

Scanned by CamScanner

करने का सामर्थ्य है । मिथिलाक्षर में जहाँ स्वर और व्यंजन का सैद्धान्तिक संकेत विद्यमान है वहाँ ध्वनि के आधार पर स्वर या व्यंजन का वर्गीकरण होता है । इसमें स्वर एवं व्यंजन की वर्णमाला पृथक-पृथक है । इतना ही नहीं, वरन् उच्चारण अवयव, वाह्य प्रयत्न और आभ्यांतर प्रयत्न के आधार पर जो वर्गीकरण होता है उसी के प्रतीक रूप स्वर और व्यंजन है । यथा अ, ई, आ, जो आदि के उच्चारण के लिये जैसी मुखाकृति बनती है उसी से मिलता जुलता वर्ण भी बनता है । "अ" के उच्चारण आधा मुँह खोलते हैं तथा जीभ मध्य में रहते हैं । "आ" की मात्रा पूरा मुँह खोलने का प्रतीक है तथा "उ" मुँह बंद होने की । मिथिलाक्षर में 45 मूल लिपि चिह्न है । स्वर की मात्रा चिह्न एवं अंक के चिह्न इससे भिन्न है । कुछ नया चिह्न भी बनते हैं । इसमें ह्रस्व "अ" ध्वनि भी मिलता है अर्थात् ई वर्णमाला अक्षर प्रधान है न कि ध्वनि प्रधान । मात्रा की दृष्टि से यह लिपि पूर्ण है । इसमें ह्रस्व और दीर्घ मात्रा में स्पष्ट भेद है । वर्णों की संख्या भी अधिक है । मात्रा के संकेत के कारण से वर्णमाला की संख्या अधिक हो गई है । समालोचनात्मक अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि आरंभ में मैथिली वर्णमाला लिखने में कुछ कठिनाई हुई होगी किंतु आगे चलकर ध्वनि के अनुरूप अक्षर लिखने में सुविधा हुई ।

मिथिलाक्षर (तिरहुता) लिपि के स्वरूप को अध्ययन करने वाले विदेशी विद्वानों में कोलब्रक (1801), मार्टिन (1840), कैंपवेल (1874), पैलेन (1875), वींस (1878), ग्रियर्सन (1880) तथा कैलोंग (1893) अग्रगण्य थे । जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, सुनीति कमार चटर्जी, गंगानाथ झा, बलदेव मिश्र, सुधाकर झा शास्त्री, सुभद्र झा, जयकांत मिश्र, विष्णुलाल शास्त्री, परमानंदन शास्त्री एवं जगन्नाथ मिश्र के कार्य चिरस्मरणीय रहेंगे ।

गौरी शंकर हीराचंद्र ओझा लिखित *भारतीयप्राचीनलिपिमाला*[5] में बंगाल क्षेत्र की लिपियों के संबंध में कहा गया है कि इन क्षेत्रों की लिपियाँ बंगाली से मिलती-जुलती है एवं बंगाली की ही शाखा है । इनकी धारणा तथ्य से परे हैं । स्मरणीय है कि मिथिला से ही ज्ञान-विज्ञान, दर्शन एवं साहित्य का बंगाल में प्रव्रजन हुआ । आज का दरभंगा "द्वार वंग" का ही पर्याय है । मिथिलाक्षर मिथिला में अवतरित होकर बंगाल, असम एवं उड़िसा गई । अभी कुछ वर्ष पूर्व तक विद्यापति को भी बंगाली लोग मानते थे किंतु प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर मैथिल मानना पड़ा । वही हाल तिरहुता लिपि के साथ भी है । यह प्राचीन है एवं मिथिलांचल की लिपि है । सुनीति कुमार चटर्जी की पुस्तक *ओरिजनएंडडेभेलपमेंटऑफबंगालीलैंग्वेज* (लन्दन, 1921) तथा *कंपरेटिभफिलोलॉजीवीथस्पेशलरिफ्रेंसटूबंगालीडाइलेक्ट्स* मिथिलाक्षर पर विशद् प्रकाश डालती है । सुधाकर झा शास्त्री के शोध प्रबंध *इंडो-आर्यनलैंग्वेजवीथस्पेशलरिफरेंसटूमैथिली* (लन्दन, 1933) में मिथिलाक्षर की महत्ता दर्शाई गई है । सुभद्र झा के शोधकार्य *फारमेशनऑफदमैथिलीलैंग्यूज* (पटना 1941) मिथिलाक्षर की उत्पत्ति का प्रमाणिक तथ्य प्रस्तुत करता था । इन्होंने मैथिली

Scanned by CamScanner

भाषा के निर्माण में लिपियों का योगदान विद्वत्तापूर्ण ढंग से रखा है । दीनबन्धु झा की *मिथिलाभाषाविद्योतम* (1945) तथा *मिथिलाभाषाकोष*(1950) लिपि पर पर्याप्त प्रकाश डालती है । राजेश्वर झा की *मिथिलाक्षरकउद्भवओविकास* (1972) लिपि के विस्तृत अध्ययन के क्रम में सफल प्रयास है । उन्होंने पृष्ठभूमि एवं तांत्रिक प्रभाव पर विशेष ध्यान दिया है ।

तिरहुता (मिथिलाक्षर) का अत्यंत विशिष्ट और प्राचीन इतिहास है । इस लिपि की रचना मनुष्य के विभिन्न अंग और आकार तथा वैदिक कर्मकांड में प्रयुक्त याज्ञिक मंडप, त्रिकोण ओ चतुष्कोण के आधार पर हुआ । लिपि विद्या मर्मज्ञ "बार्टन" के अनुसार सभी प्राचीन लिपियों का उद्भव चित्राक्षर से हुआ । अतः यह स्पष्ट है कि उस भूभाग की लिपि तिरहुता है जो तिरभुक्ति या तिरहुत नाम से जानी जाती है । परंतु यह निश्चित रूप से इसकी उत्पत्ति के बारे में कहना कठिन है । *शतपथ-ब्राह्मण*[1] से पता चलता है कि आर्यों के एक दल माधव विदेह एवं उनके पुरोहित ने रहुगण के नेतृत्व में सरस्वती नदी के तट से सटे हुए विदेह राजवंश की स्थापना की । संभव है कि वह दल अपने साथ सिंधुघाटी की सभ्यता, संस्कृत भाषा एवं लिपि भी लाए हों ।

*वृहदराण्यकउपनिषद्*के तीसरे-चौथे अध्याय में वर्णित जनक-याज्ञवल्क्य संवाद एवं दूसरे अध्याय में वर्णित याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद में जिस रूप के सारगर्भित तर्क प्रणाली लिखित है उससे स्वभावतः अनुमान लगाया जा सकता है कि शतपथ कालीन विदेह सर्वांग संपूर्ण विकसित राज्य थी जिसे स्वतंत्र वैदेही भाषा एवं स्वतंत्र वैदेही लिपि भी थी । इस तथ्य की सम्पुष्टि बौद्धधर्म के प्रसिद्ध ग्रंथ *ललितविस्तर*[6] से होती है, जिनका चीनी अनुवाद 308 ई० में हुआ । इस ग्रंथ में 64 लिपि की सूची है जिसमें पूर्व विदेह लिपि की चर्चा भी है । ऐसा अनुमान है कि पूर्वोत्तर भारतीय, दक्षिणी नेपाल क्षेत्र के मैथिली, बंगला, आसामी एवं उड़िया लिपि का विकास सम्भवतः उसी लिपि से हुई ।

विदेह (या मिथिला) में लिपि की प्राचीनता का एक प्रमाण और उपलब्ध है । विदेह राज्य की स्थापना से पहले विदेह व्रात्य नामक आदिवासी निवास करते थे जिनके लिए संहिता एवं ब्राह्मण ग्रंथों में सब में नीचवाचक शब्द का प्रयोग हुआ है । किंतु व्रात्य लोगों का संपूर्ण उत्तरी भारत में प्रभाव था एवं उनकी संस्कृति, साहित्य भाषा एवं लिपि लौकिक थी । प्रायः इसीलिए व्रात्य लोग ब्राह्मण ग्रंथों में अनादर के पात्र हैं । *महाभारत* में लिच्छवि के व्रात्य क्षेत्रिय एवं भगवान बुद्ध ने वज्जी की संज्ञा दी, जिसके अर्थ होते हैं घुमक्कड़ । व्रात्य की भाषा को वाटुला किंवा वर्तनी कहा जाता है । तिरहुता लिपि को व्रात्य लोगों ने तात्कालिक लिपि की घनिष्ठ सूचना देते हैं । इस रूप में तिरहुता लिपि के मूल उत्स *ललितविस्तर* की विदेह लिपि से बहुत प्राचीन साबित किया जा सकता है ।

Scanned by CamScanner

ऐतिहासिक प्रगति की दृष्टि से लिपि के प्राचीनतम एवं प्रारंभिक रूप चिंत्रात्मक रहे होगे, अर्थात् मनुष्य अपने मनोभाव को लिपिबद्ध कराने के ध्येय से चित्र निर्माण कर स्पष्ट करते थे । यह प्रणाली अत्यंत दोषयुक्त थी । पश्चात् भावलिपि का आविष्कार हुआ । विश्वभर में इस रूप में भाव लिपि जो निर्मित हुई उसे चार भागों में रखा जा सकता है, जैसे-भारतीय, यूरोपीय, सामी एवं चीनी । भारत में प्राचीन काल में राष्ट्रीय स्तर पर दो ही लिपि प्रचलित थी । ब्राह्मी और खरोष्ठी। जहाँ ब्राह्मी बाएँ से दाएँ लिखी जाती थी वहाँ खरोष्ठी दाएँ से बाएँ । ब्राह्मी से ही संपूर्ण भारतीय लिपि का उद्भव माना जाता है ।

प्रख्यात लिपि मर्मज्ञ गौरी शंकर हीराचन्द ओझा ब्राह्मी लिपि को दो श्रेणी में बांटते हैं–उत्तरी और दक्षिणी । उत्तरी लिपि को पुनः पाँच श्रेणियों में विभक्त किया-यथा-गुप्त लिपि, कुटिल, प्राचीन नागरी, शरदा तथा बंगला । बंगला का विकास प्राचीन नागरी से 10वीं शताब्दी के समय मानते हैं । मिथिलाक्षर, आसामी एवं उड़िया लिपि की चर्चा उन्होंने नहीं किया । प्रायः सभी को वे बंगला लिपि के अंतर्गत ही मानते हैं । किंतु यह बात समीचीन नहीं जान पड़ती । तिरहुता के क्रमिक प्रयोग में ह्रास एवं बंगला से मिलती-जुलती होने के कारण साधारणतः अज्ञानतावश यह कहा जाता है कि तिरहुता बंगला लिपि से निःसृत हुई । हाँ, यह बात मानी जा सकती है कि तिरहुता एवं बंगला की मूल उत्स एक ही थी ।

वस्तुतः बुद्ध के समय संपूर्ण पूर्वीय क्षेत्र में एक ही लिपि थी । इस पूर्वी भूभाग में संयुक्त प्रांत के पूर्वी क्षेत्र, मध्य प्रांत के पूर्वी क्षेत्र, बिहार एवं उड़ीसा और बंगाल थे । इसे विदेह लिपि मानी जा सकती है । *ललितविस्तर* में इसका स्पष्ट उल्लेख है । विदेह के नाम पर इस लिपि की प्रसिद्धि के कारण यह मानी जा सकती है कि उस समय मिथिला जो शैक्षणिक दृष्टि से मुख्य केंद्र थी इसी विदेह लिपि अथवा पूर्वी क्षेत्रीय लिपि से मैथिली का विकास छठी शताब्दी में आरंभ हुआ। यह पूर्व क्षेत्रीय लिपि गुप्तकालीन लिपि से मिलती जुलती थी एवं वह विकसित हुई। गुप्त शासन काल की लिपि स्वयं प्राचीन ब्राह्मी लिपि के विकसित रूप में थी जिसका विकास मध्यवर्ती श्रृंखला कुषाणकालीन लिपि में कहा जा सकता है । इसी लिपि में सातवीं शताब्दी में लिखा गया आलेख जापान के होरियुजी मठ से प्राप्त हुआ था । यह पूर्वी लिपि किंवाविदेह लिपि ही बंगला-आसामी एवं ओड़िया वर्णमाला की जननी मानी जाती है । इन लिपियों में अत्यधिक साम्य दृष्टिगत होता है । तिरहुता और बंगला में अधिक संपर्क और सामीप्य रहा है । तिरहुता लिपि लिखने का कुछ ढंग अलग हैं । कुछ अक्षरों में भी भिन्न रूपों की विशिष्ट है । स्वभावतः बंगाली लोग तिरवा को संज्ञा देकर उसे स्वीकार करते हैं । मगध तो तत्कालीन समय में विदह में ही था। इसलिए विक्रमशीला एवं नालन्दा में मुसलमान लोगों के आने से पूर्व की लिखी हुई ऐसी मांडुलिपि नेपाल में सुरक्षित है जो उसी वर्णमाला के आलेख हैं । सातवीं शताब्दी के बाद देवनागरी की संक्षिप्त शैली के वर्णमाला, इस भूभाग में प्रचलित थी । कुछ

Scanned by CamScanner

मिथिला के उच्च वर्ग जाति में प्राचीन लिपि के प्रयोग होती थी । बाद में मुद्रण कला विकसित हुई तथा तिरहुता में टाईप के निर्माण नहीं होने के कारण, हिंदी साहित्य के प्रसार के साथ ही लिपि का उपयोग मैथिली लिखने में होने लगा । यही स्थिति आज भी है ।

प्राचीन लिपियों की वर्णमाला में तिरहुता अपनी विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध है । तिरहुत में कुछ लिखने से पूर्व एक चिह्न जिन्हें आँजी कहा जाता है, का व्यवहार देखते हैं । यह शुभसूचक शब्द-संकेत है कि यह विद्वानों की धारणा है । परंतु इसका सही अर्थ विवादास्पद है । कोई इन्हें मंगलसूचक गणेश के दाँत की आकृति मानते हैं । भाषाशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् पद्मनाथ भट्टाचार्य के अनुसार आँजी कोई अक्षर नहीं है बल्कि तंत्र संबंधी कुंडलिनी की सर्वाकार प्रतीकात्मक आकृति है जिसमें प्रत्येक अक्षर व्याप्त रहता है जिससे इसके उच्चारण नियमित रहता है । तंत्र ग्रंथों से सिद्ध होती है कि द्विदलचक्र (आँजी चक्र) से ऊपर कल्प की स्थिति थी जो योगीन (तंत्रोपासक मात्र) के बड़े प्रिय है । विभिन्न विद्वानों ने इसकी उत्पत्ति स्वतंत्र रूप से तांत्रिकयंत्र त्रिकोण, विंद्व, वृत्त एवं चतुष्कोण आदि से हुआ मानते हैं । इस लिपि में "ओ" एवं "औ" स्वतंत्र वर्ण है "अ" में मात्रा लगाकर बना वर्ण नहीं है । तिरहुता में लघु एवं दीर्घ मात्रा लगाने की चिह्न एकदम भिन्न है । यह अत्यंत जल्दी में लिखी जा सकती है । इसमें लेखनी को बार-बार उठाने की जरूरत नहीं है । इसमें संयुक्ताक्षर सब भिन्न रूप की स्वतंत्र वर्णमाला है । मात्रा लगाकर बनी हुई वर्णमाला नहीं यह विशेषता अन्य किसी लिपि में नहीं है यथा-र्ग, क्र, ष्ण, त्र, कृ आदि के लिए पृथक्-पृथक् अक्षराकृति है । "ण" एवं "श" के दो-दो वर्ण इस लिपि में है । इस लिपि के प्रत्येक वर्ण की वर्णात्मक संज्ञा यथा हरि से कि, काइंचन का या कांचुन का । पूर्ण विराम को "पायी" कही जाती है । ध्वनि विषमता का संकेत भी अक्षरारम्भ मे ही दे दिया जाता है यथा ये पोखरिया "ज" कही जाती है एवं "ष" पेट चिरा "ख" । तिरहुता लिपि की वर्णमाला का अंत उर्ध्वगति में होता है । अतएव् तिरहुता प्राचीन लिपि के साथ ही साथ वैज्ञानिक लिपि भी है । अत: इसके स्वतंत्र अस्तित्व को मानना पूर्णत: उचित है ।

तिरहुता लिपि पर तंत्र का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखता है । 11वीं शताब्दी के अरबी प्रसिद्ध विद्वान् अलबेरूनी ने अपनी भारत यात्रा के वृतांत के क्रम में लिखते हैं कि उस समय में सिद्धमातृका नामक लिपि सर्व प्रमुख थी जो कश्मीर, बनारस तथा मध्यभारत में प्रसिद्ध थी ।[7] वस्तुत: उस युग में तिरहुता पर सिद्ध लोगों का प्रभाव था इसलिए उसकी संज्ञा सिद्ध मातृ की भी थी इसलिये कि निर्माण के आधार तंत्र था जिसके बिना अर्थात् संक्षेप का नितांत महत्वपूर्ण स्थान था । संस्कृत वांग्मय में इस बीज के विविध प्रकार का प्रयोजन किया गया है । कहीं गुह्य तंत्र को गुह्य बनाने के प्रयोजन तो कहीं सूत्र पद्धति के कारण संक्षेप रूप की आवश्यकता जान पड़ती है । इस तरह की पद्धति के आधार पर भारतीय संगीत के सात मुख्य स्वर सा रे ग म प

Scanned by CamScanner

ध नि जो से षड्ज, रे जे कषम, ग से गन्धार, म से मध्यम, प से पंचम, ध से धैवत त नि से निषाद के बीजमन्य की उत्पत्ति हुई ।[8] बीजमंत्र के प्रसंग में गुह्यमंडली में इस तरह की पद्धति अति प्राचीन काल से ही प्रचलित है । बौद्ध और शैव धर्म के द्वारा बीज मंत्र का प्रचार भारत से सुदूरवर्ती देश गया । चीन और जापान के बीजाक्षर के लिखने के निमित ही ''सिद्धम'' लिपि का प्रयोग हुआ । चीनी भाषा में वर्णमाला नहीं है । प्रत्येक शब्द के हेतु रेखा से निर्मित विशेष चित्राक्षर है । अतः प्रत्येक गुह्य मंत्र, धरणी एवं सूत्र के अनुवाद रूप में नहीं होकर मूल रूप में ही अधिक प्रभावशाली हुआ । 8वीं शताब्दी लगभग के कलात्मक भारत में सिद्धम लिपि का प्रयोग आरंभ हुआ ।[9]

आर० एच० वन गुलिक महोदय इस विषय पर अपनी विवेचनात्मक पुस्तक *सिद्धम* में लिपि के कलात्मक रूप का विवेचन करते हुए बीज तथा मंडल का विस्तृत वर्णन करते हैं ।[10] उनके अनुसार बीजयंत्र विशेष देवी-देवता, सूत्र, मंत्र और धारणी के प्रतिनिधित्व करते हैं । इस प्रसंग में सिद्धम बीजाक्षर के संग्रह, व्याख्या आदि के ऊपर जापानी विद्वान्जोउनके सहस्रभागरिय *वृहद्ग्रंथबोंगाकुशिवर्यो*विशेष उल्लेखनीय है । 17वीं शताब्दी के आरम्भ में नागोपाक उत्तर मीनो नामक स्थान के शिगोन मन्दिर के एक भिक्षु युजान् प्रत्येक बीजाक्षर के स्तूप के रूप में माना है । उनके अनुसार विन्दु से आकार, चंद्र से वायु, शिरोरेखा से अग्नि, अंक्षर के आकार से जल तथा उसके आधार से पृथ्वी का बोध होता है । इसी क्रम में भिन्न यूजान् प्रत्येक बीजाक्षर के इस जगत् के वस्तु मात्र स्वरूप पंचमहाभूत से युक्त बतलाते हैं ।[11] इसी प्रसंग में चीनी पर्यटक इत्सिंग के यात्रावर्णन बहुत महत्वपूर्ण है । उन्होंने अपनी यात्रा के वर्णन के क्रम में संस्कृत व्याकरण के पाँच ग्रन्थों की चर्चा की है ।

(1) *सितंचूंग* अर्थात् सिद्ध व्याकरण जिसे वे सिद्धिरस्तु कहते हैं । यह ग्रंथ विघारम्भ के प्रथम ग्रंथ थी जो प्रारंभिक बच्चे को पढ़ाए जाते थे । छः मास का इसका पाठ्यक्रम होता था ।

(2) *ग्रन्थमहेश्वर* द्वारा उद्बोधित पाणिनि सूत्र था जो सिद्ध व्याकरण के बाद पढ़ाई जाती थी ।

(3) *ग्रन्थधान* पाठ का जिसमें 100 श्लोक था ।

(4) जकादित्यकृत *अष्टधातु*थी जो 10 वर्षों के बच्चों को तीन वर्ष तक पढ़ाई जाती थी ।

(5) ग्रंथ 18000 श्लोक के वृत्ति सूत्र था ।

इसमें से प्रथम ग्रंथ यानी *सितंचंग*अर्थात् सिद्धिरस्तु को छोड़कर अन्य सभी ग्रंथ तो भारत में ही उपलब्ध है किंतु ग्रंथों के प्रसंग का उल्लेख इत्सिंग एवं ह्वेन्सांग के यात्रा विवरण में पाया जाता है तथा जापान एवं वोडलिंग पुस्तकालय में यह ग्रंथ अभी भी उपलब्ध है । इन पाँचों ग्रंथों में प्रथम ग्रंथ *सितंचंग*अर्थात् *सिद्धिरस्तु* में

Scanned by CamScanner

उनचास अक्षर थे जो एक दूसरे से संबद्ध एवं अट्ठारह भाग में विभाजित था । इस ग्रंथ में 300 श्लोक थे तथा प्रत्येक श्लोक में चार पाठ था जिसके प्रणेता महेश्वर कहे जाते थे ।

हितोपदेश के मंगलवाक्य में भी शिव की प्रसाद सिद्धि की कामना किया गया है । अतएव प्रतीत होता है कि सिद्धिरस्तु प्रणेता सिद्धि महेश्वर ही थे ।*सिद्धिरस्तु हितोपदेश* वा *अमरकोष* जैसा कोई छोटी ग्रंथ था ।

भाष्यकार कश्यप के अनुसार दुर्भाग्यवश यह ग्रंथ चीन से लुप्त हो गया किन्तु जापान में अभी भी सुरक्षित है । कश्यप के अनुसार *सिद्धिरस्तु*सिद्धम के स्त्रीलिंग रूप है जो सिद्धि के रूप में प्रयुक्त होता है । वोडलिंग पुस्तकालय में इस ग्रन्थ की एक प्रति सिद्ध के 18 भाग के नाम से उपलब्ध है । इस से प्राचीन ग्रंथ जो वहाँ *सिद्धिकोष* के नाम से सुरक्षित हैं वह 880 ई० की लिखा हुआ है । इस ग्रन्थ में सिद्धि के 18 भाग, उनचास अक्षर तथा 300 श्लोक है जो पूर्णत: इत्सिंग के सिद्धिरस्तु के साम्य रखता है । इस बात से यह स्पष्ट है कि *सिद्धिरस्तु*का संबंध शिवसूत्र से था जो प्रारंभ में बच्चों को बतायी जाती रही है एवं आद्यपर्यत प्रचलित है । अक्षर शब्द अक्षय (ब्रह्म) शब्द से निस्सृत हुआ है जिसकी उपलब्धि हेतु सिद्धि का आवश्यकता तो है ही किंतु सिद्धि बिना साधना के संभव नहीं हैं । *सिद्धिरस्तु*की चर्चा इत्सिंग ने 7वीं शताब्दी में की जो अभी भी तिरहुत क्षेत्र में व्यवहृत है । कुछ विद्वानों का मानना है कि अरबी तीर्थयात्री विद्वान (11वीं शती ई०) अलबेरूनी के वर्णन में जो सिद्धमात्रिका लिपि कोई दूसरी लिपि नहीं है बल्कि तिरहुता लिपि ही है जिस पर तंत्र का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है ।

बीजाक्षर को लिंखना कला और साधना है । बीज विचार, नाम तथा भाव के विक्षिप्त रूप है जिसका विस्तृत प्रयोग तंत्र के ग्रन्थों में उपलब्ध है; तंत्रमार्ग रहस्य मार्ग है । रहस्य तत्व के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया जाता है । प्रतीकात्मक कथन पद्धति उपनिषद[12] में भी पाई जाती है । *मुंडकोपनिषद*में पक्षी का वर्णन तथा *श्वेताश्वर* में हंस का वर्णन इसी प्रतिकात्मक पद्धति पर हुआ है । शब्द साधना में भी उपनिषद् नितांत जोर देती है । बीजाक्षर की व्याख्या जो तंत्रों में मिलती है वह उपनिषद में भी सुरक्षित है । हें का अर्थ हृदय, ''द'' का दान तथा यमक अर्थ अक्षर किया गया है ।[1] ऐसे ही प्रतिकृति लिपि के रूप में व्याप्त होकर क्रमश: पृथम-पृथक वर्ण में विभक्त हुआ जिसे मातृका कही जाती है । *मंत्रशास्त्र*में विलोममातृका,वहिमातृका तथा अंतर्मातृका विशेष चर्चा है । प्रचलित मातृका के सविंदुक उल्टा रूप ही विलोम मात्रिका है । लिपि मणी देवी के रूप में वहिर्मातृका कही जाती है । इसमें विशेष क्रम में अकारादि वर्ण के द्वारा देवी के अंग के निर्माण किया जाता है । आधार स्वाधिष्ठान आदि चक्र में, साधक जब वर्णक वं शं षं सं आदि क्रम से न्यास करती है तब उसे अन्तर्मातृका कही जाती है । सुश्लिष्ट क्रम आ से क्ष पर्यंत बुझल जाइछ । अकार के मातृकाध

Scanned by CamScanner

तथा क्षकार के मातृकांत कही जाती है । मातृका की संख्या पचास है । वर्णमाला को मातृका कहा जाता है । मातृका के वर्ण के रूप के संबंध में बहुत से मत है ।' *कामधेनुतंत्र,सनतकमारसंहिता,सौभाग्यभाष्कर,मातृकानामकाला* आदि तंत्र के ग्रंथ में वर्ण के स्वरूप का वर्णन सन्निहित है । वर्ण की उत्पत्ति के संबंध में *गणपतितत्वमें* उल्लेख है–कि अ, आ से मनुष्य माथ, ए, ऐ से कर्ण तथा ओ, और से कंठ और ग्रीवा का प्रतिनिधित्व होता है । क अक्षर के प्रति जिह्वा, ख से मूलाधार, ग कटि, घ पाय और ङ से उपस्थ का प्रतिनिधित्व होता है । च अक्षर से जाँघ, छ से टॉग और ठेहुन, ज से केहुनी तथा भुजापाद तथा से अुगुली तथा नख को बोध होता है । ट अक्षर से नाभि, ठ अक्षर से हृदय, ङ अक्षर से गुह्यांतर, ढ से प्लीहा ण से पडुरितन समझी जाती है । अक्षर में मनुष्य के पृष्ठ, ध से वक्ष, द से जढर, घ से आन्य और न हृदय प्रतीत होता है । प से स्तन, फ से पृष्ठ, व अक्षर से, भ से बाहु तथा म अक्षर से पुस्युस के तात्पर्य है । य अक्षर से कंठ, र से तालु, ल से मूर्धा, व से प्रति जिह्वा, श से उर्ध्वाष्ठि, ष से जिह्वाग, रू से अध्ररोष्ठ, ह से हृदय को बोध होता है । *शिवपुराण,लिंगपुराण* तथा*मालिनीविजयोत्तरतंत्र* में भी इसी प्रसंग में चर्चा है । किन्तु सब में स्थान में विभिन्नता है तथापि इन सब से स्पष्ट है कि प्रतिकृति एंव भावरूप में परिवर्तित चित्रलिपि कालक्रम में लिपि क्ष आकार ग्रहण किया । बहुत दिनों तक ऐसी ही स्थिति बनी रही । तदुपरांत यह चित्र लिपि क्रमिक विकास के साथ प्रांतीयता एवं क्षेत्रीयता का रूप ग्रहण किया साथ ही विद्वानों का मत है कि 500 ई० से 900 ई० तक में तंत्र का प्रभाव से कलात्मक रूप ग्रहण किया । फर्क्युहार 500 ई० से 900 ई० तक के युग को शाक्त युग मानते हैं,[13] उनके अनुसार 900 से 1300 ई० तक के युग में अनेक यामल साहित्यकी रचना हुई । अतएव तिरहुता लिपि का निर्माण इसी युग में हुआ जिसपर तंत्र का प्रभाव परिलक्षित होती है ।

तिरहुता लिपि के क्रमिक इतिहास के क्रम में नारायणपाल के भागलपुर दान पत्रकी लिपि, श्री चंद्र के रामपाल दान पात्र की लिपि, महिपाल प्रथम के वनगढ़ दान पत्र की लिपि, भोजवर्मन के वेलवा दान पत्र की लिपि, लक्ष्मण सेन के तरपणदिघी दान पत्र के लिपि तथा पक्षधर मिश्र (ल० सं० 344-1464 ई०) विष्णुपुराण के लिपि के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है ।

श्रीचन्द्र के रामपाल दान पत्र तथा भोजवर्द्धन के वेलवा दान पत्र में स्वर वर्ण के अ, आ, उ समान रूप मे मिलता है । रामपाल दान पत्र में अ अक्षर साधारणत: एक ही तरह के हैं किन्तु वेलवादान पत्र में अ अक्षर के दो भेद मिलते हैं । पहले भेद में त्रिभुज अधिक चौले हैं जो प्राय: समद्विवाहु के अपेक्षा ज्ञात होती है किंतु दूसरे भेद में मस्तिक के बढ़ जाने के कारण उपकरण त्रिभुज में परिणित हो गया है जो त्रिभुज के एक भुजा के वक्र रेखा के साथ मिलाती है तथा लंब रेखा के नीचे का हिस्सा अंतिम अंश के जोड़ते हैं । इस तरह आ अक्षर स्वरूपत: अ अक्षर से ही बाहर हुआ है ।

Scanned by CamScanner

व्यंजन वर्ण के प्रथम दो वर्ण अर्थात् क वर्ग तथा च वर्ग में समानता है। रामपालदान-पत्र के 'ट' अक्षर जैसी वेलवादानपत्र के वायां भाग के लंब रेखा का अभाव है। रामपाल के दान पक्ष में ठ अक्षर की आकृति मौर्य अभिलेख जैसी पूर्णत: गोल है। किन्तु वेलवा दान पत्र में यही अक्षर पूर्ण रूप से गोल नहीं है अर्द्धावृत्त रूप में है। त अक्षर दोनों में समान है। ध अक्षर में पूर्णत: विभिन्नता है। रामपाल दान पत्र में इस अक्षर के दो रूप हैं। घ अक्षर पूर्ण से भिन्न हैं। रामपाल दान पत्र में घ अक्षर के रूप गुप्त अभिलेख में वर्णित जैसी है। किंतु वेलवादान पत्र में कुछ अलग है। रामपाल दानपत्र में वर्णित न अक्षर में जो रेखा नीचले भाग के क्षेत्र में दाहिने भाग के लंब रेखा के साथ मिलाती है वह स्पष्ट नहीं है किंतु वेलवादान पत्र में वह रेखा स्पष्ट रूप से वक्र है। प वर्ग के म अक्षर में भिन्नता है। इस प्रकार अन्य-अन्य अक्षरों में विभिन्नता जो है उसका कारण लिपि की प्राचीनता है।

इन चारों दान पत्र की लिपि तथा पक्षधर मिश्र कृत *विष्णुपुराण* के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि रामपाल दान-पत्रा लिपि के साथ इन लिपियों का संपर्क सामिप्य ही नहीं थी वरन् सभी लिपियाँ वस्तुत: एक ही है। इस प्रसंग में अ तथा आ अक्षर के रूप जे वेलवादान पत्र में वर्णित है वही वनगढ तथा दर्पणदिषी दानपत्र में पाई जाती है। रामपाल दानपत्र की अ तथा आ अक्षर, जो त्रिभुजाकार हुआ उपर्युक्त दानपत्र की लिपि से भिन्न है। नारायणपाल के भागलपुर दान पत्र के अ तथा आ अक्षर तथा *विष्णुपुराण* के अ और आ अक्षर से साम्य है तथा स्मरणीय है कि*विष्णुपुराण* और शिरधर दास की अन्धराठाढ़ी अभिलेख लिपि में दोनों ही तरह के अ एवं आ अक्षर के रूप मिलती है।

इ अक्षर के प्रारम्भिक रूप जो रामपाल दानपत्र में उल्लिखित है वनगढ़ दानपत्र में नहीं पाया जाता है किंतु इस प्रकार इ अक्षर के रूप भागलपुर दानपत्र में तथा विष्णुपुराण में साधारणत: पाया जाता है। रामपाल दानपत्र में वर्णित जो ट अक्षर के रूप है वह नहीं तो वनगढ़ दानपत्र और न भागलपुर दानपत्र में पाया जाता है किंतु इस प्रकार के रूप धर्मपाल के खलिमपुर दान पत्र में वर्णित है। ध अक्षर के जे रूप वनगढ़ दान पत्र में है वही रूप सभी दानपत्रों में है। द तथा ध समानत: एक ही रूप के हैं। य अक्षर के पीछे में जो वक्रता है वह रामपाल के दान पत्र से मिलती है। इसीप्रकार छ तथा द अक्षर के रूप में भी मिलती है। रामपाल दान पत्र में जो र अक्षर के रूप पाई जाती है वनगढ़ दान पत्र, भागलपुर दान पत्र में जो र अक्षर के रूप पाई जाती है वनगढ़ दान पत्र, भागलपुर दान पत्र तथा *विष्णुपुराण*में उपलब्ध है। रामपाल दान पत्र में वर्णित एक रूप वनगढ़ दान पत्र में नहीं पाई जाती है किंतु वनगढ़ दानपत्र में वर्णित श के रूप भागलपुर दान पत्र तथा *विष्णुपुराण*के श के रूप में साम्य है। अन्य अक्षरों के साथ भी इस तरह के रूप पाए जाते हैं।

Scanned by CamScanner

लक्ष्मण सेन के तरपणदिघी दान पत्र में वर्णित अ, आ, इ, ट, थ, ध, य, र, श, ष, स और ह अक्षर में कुछ भिन्नता है जिसका झुकाव तिरहुता से वंगला की ओर हुई दृश्टिगोचर होती है जिसपर क्षेत्रीय प्रभाव पाया जाता है । कारण श्री चंद्र के रामपाल दान पत्र तथा भोजवर्मन वेलवादान पत्र और देश के पुंड्रवर्धन मुक्ति श्री विक्रमपुर स्कंधावार से जारी किया गया था ।

वेलवादान पत्र की लिपि के प्रसंग में राधागोविंद बसाक के मत है कि इस दान पत्र की लिपि 11वीं शताब्दी के उत्तरी लिपि है[14] तथा रामपाल दान पत्र के लिपि के प्रसंग में उनकी धारणा है कि 11-12वीं शताब्दी के उत्तरी भारत के पूर्वी भाग की लिपि है[15] जिसे आर० डी० बनर्जी बंगला के पूर्ववर्त्ती रूप मानते हैं । ये लिपियाँ तिरहुता के अतिरिक्त अन्य कोई लिपि नहीं हो सकती है । स्मरणीय है कि *विष्णुपुराण* भी महिपाल के प्रश्रय में लिखा गया थी ।[1] अतः तिरहुता लिपि ही बंगला का पूर्ववर्त्ती रूप है ।[16]

तिरहुता एवं बंगला में विश्लेषण तथा क्रम

(1) अं अक्षर उर्धवृत्त मध्य स्तर है ।

(2) *सनतकुमारसंहिता*के अनुसार अ वर्ण के स्वरूप शरत्चन्द्र सदृश, पंचकोणमय, शक्तिपयुक्त,निर्गुण, यिगुणोपेत, कैवल्यमूर्ति विंदुतत्वमय प्रकृति स्वरूप है ।

(3) *वर्णोद्वारतंत्र* के अनुसार अ अखर लिखने हेतु दाहिने भाग में कुंडलीरूप हुए पुनः बाएँ की ओर होकर उसी क्रम में वह रेखा अधोभाग के अवलंबन कर दक्षिण भाग में पुनः उर्द्धमुख होकर फिर बाएँ भाग में दो कुंडली रूप में होकर दाहिने रेखा अधोभाग पर रहे ।

(4) तिरहुता लिपि की आकृति में उर्ध्व तथा अधोभाग के मध्य आकंचन रहता है जिसकी रेखा एवं वह संयुक्त होकर सिर के अधोभाग पुनः एक दूसरे भाग आकुंचित रेखा दाहिने भाग में उर्ध्वमुख होती है ।

इस तरह अक्षर निर्माण 7वीं शताब्दी से 10वीं शताब्दी के मध्य में हुआ । यह युग मुख्यतः नागरी, शारदा तथा आधुनिक तिरहुता के उद्भव का युग था ।

संदर्भ एवं टिप्पणी

1. पवन कुमारी, *तिरहुतालिपिकाइतिहास*(अप्रकाशित पी-एच. डी. शोध प्रबंध, पटना विश्वविद्यालय, पटना, 1996, प्राक्कथन, पृ० अ-उ ।
2. हर प्रसाद शास्त्री, *बौद्धगानओदोहा*, कलकत्ता, 1958
3. परमानंदन शास्त्री, 'मिथिलाक्षरक उत्पति', *मिथिलामिहिर*, पटना, 1960 पृ० 21-30

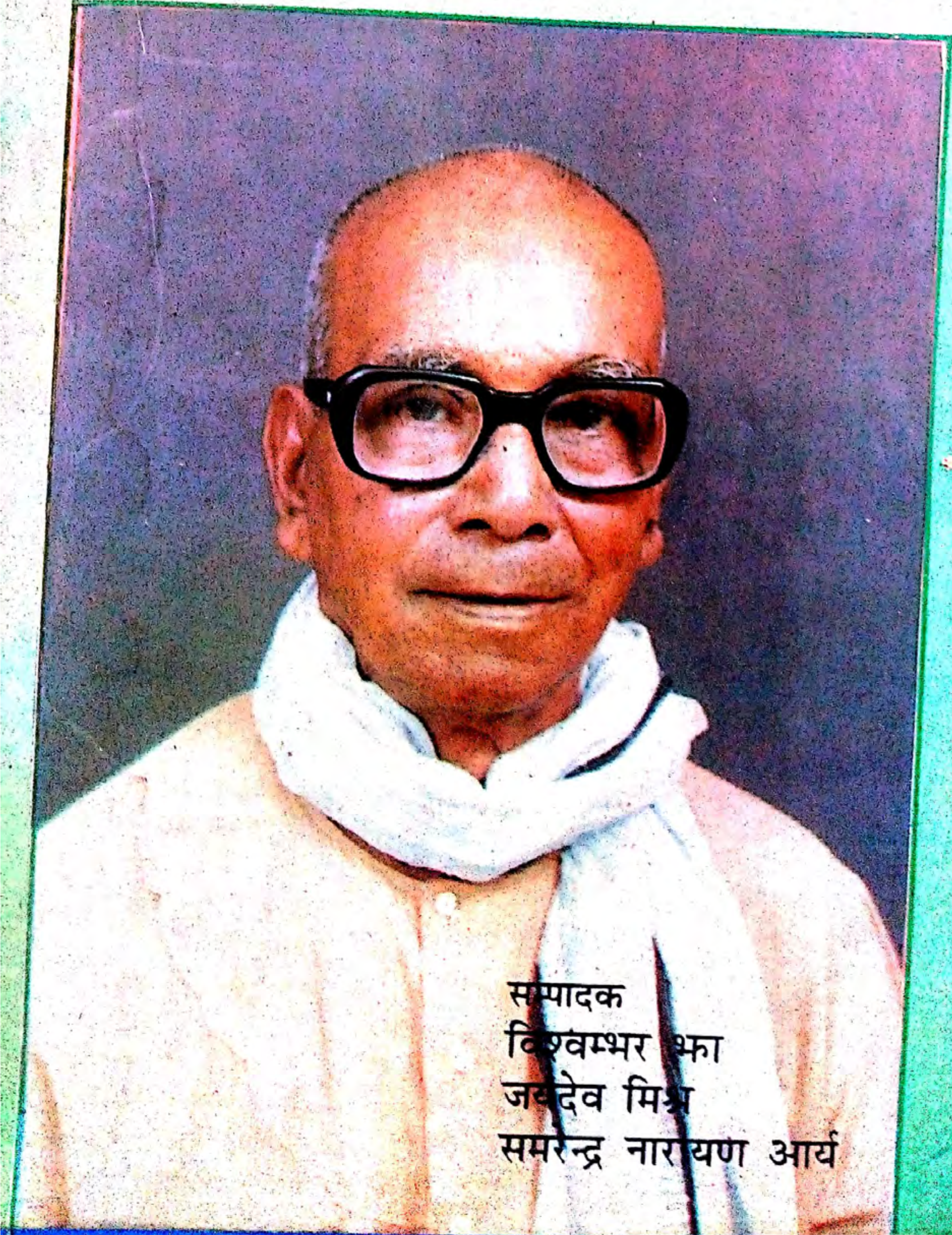
Scanned by CamScanner

4. राजेश्वर झा, *मिथिलाक्षरकउद्‌भवओविकास*,सहरसा, 1961, प्राक्कथन
5. गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा, *भारतीयप्राचीनलिपिमाला*, दिल्ली, 1959, पृ० 3-4
6. ललितविस्तर (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना द्वारा प्रकाशित), 1956, पृ० 51-53.
7. एडवर्ड सचाऊ, *अलवेरूनीजइण्डिया*,दिल्ली, 1953, भाग 1, पृ० 173.
8. सुदर्शन देवी सिंहल, *गणपतितत्त्व*, बम्बई, 1956, भू०पू० 16.
9. *साधनमाला*(अनु० विनयतोष भट्टाचार्य), बड़ौदा, 1934, भूमिका ।
10. *गणपतितत्त्व*, भू० पू० 17
11. *ज०आ०दि०ओ०रि०*, मद्रास, अंक 10, भाग 4, पृ० 11-26.
12. *वृहदारण्यकउपनिषद्*, 5.3.1.
13. जे० एन० फवर्य, *दिरिलिजियसक्वेस्टऑफइण्डिया*,दिल्ली, 1962, पृ० 167.
14. *एपिग्राफियाइण्डिका*,भाग XII, पृ० 37.
15. *वही* ।
16. *सरआतुतोषमुखर्जीसिलवरजुबलीअंक*, कलकत्ता, 1962, पृ० 212.



मिथिला संस्कृति एवं परम्परा

(पंडित राजेश्वर ठाकुर अभिनन्दन ग्रंथ)



Scanned by CamScanner

मिथिला

संस्कृति एवं परम्परा

(पंडितराजेश्वरठाकुरअभिनन्दन-ग्रंथ)

सम्पादक

विश्वम्भर झा

जयदेव मिश्र

समरेन्द्र नारायण आर्य

जानकी प्रकाशन

पटना नई दिल्ली

Scanned by CamScanner

प्रथम संस्करण : 2001
© सोसाइटी फॉर रीजनल स्टडीज, पटना

प्रकाशक
नन्द किशोर सिंह
जानकी प्रकाशन
अशोक राजपथ
चौहट्टा, पटना-800 004

शाखाकार्यालय
1979, गंज मीरखान
दरियागंज, नई दिल्ली-110 002

सोनी कम्प्युटर
महेन्द्रू, पटना-800 006

Mithila : Sanskriti Evam Parampara (Pt. Rajeshwar Thakur Abhinandana Grantha), eds. Bishwambhar Jha, Jayadeva Mishra, Samarendra Narayan Arya. Price : Rs. 400=00

Scanned by CamScanner